यह कहानी नहीं है

शंकरदयाल सिंह

प्रकाशक • प्रभात प्रकाशन
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

संस्करण • १९९५

मूल्य • दो सौ रुपए

सर्वाधिकार • सुरक्षित

मुद्रक • राधा प्रेस, दिल्ली

YAH KAHANI NAHI HAI
(Complete stories of Shanker Dayal Singh) Rs. 200.00
Published by Prabhat Prakashan, Chawri Bazar, Delhi-110 006
ISBN 81-7315-033-8

संपादकीय

भारतीय राजनीतिक-क्षेत्र और हिंदी साहित्य जगत् दोनों ही के लिए शंकरदयाल सिंहजी का नाम कोई नया नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में जहाँ उनका व्यक्तित्व एक सुलझे हुए राजनेता के रूप में उभरकर सामने आया है वहीं हिंदी साहित्य के क्षेत्र में उनकी लेखनी का जादू पाठकों को वर्षों से आकृष्ट करता रहा है। जहाँ एक ओर उन्होंने अपनी राजनीतिक-यात्रा में अनेक पड़ाव तथा मंजिलें तय की हैं वहीं दूसरी ओर सर्जनात्मक साहित्य-लेखन में अनेक कीर्ति-स्तंभ स्थापित किए हैं। विषमताओं और कुटिलताओं से प्रदूषित आज के इस राजनीतिक वातावरण में शंकरदयालजी ने गांधीवादी आदर्शों की चादर ओढ़कर जो छवि स्थापित की है, वह आगे आनेवाले राजनेताओं के लिए 'आदर्श' बनेगी और उनका दिशा-निर्देश करेगी। दूसरी ओर सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में, विशेषकर 'संस्मरण' और 'यात्रा-वृत्तांत' लेखन की परंपरा में, अपनी लेखनी के माध्यम से हिंदी साहित्य जगत् को उन्होंने जो अमूल्य निधि अर्पित की है, वह आगे आनेवाले साहित्य लेखकों के लिए प्रेरणादायक साबित होगी।

गत तीस-पैंतीस वर्षों से शंकरदयालजी साहित्य-लेखन से जुड़े रहे हैं और आज भी उनकी लेखन-धारा वेगवती प्रवाहित हो रही है। साहित्य की शायद ही कोई विधा हो जिस पर उन्होंने अपनी लेखनी नहीं चलाई। कहानी, निबंध, आलोचना, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत आदि के क्षेत्र, विशेष रूप से, उनके प्रिय लेखन-क्षेत्र रहे हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकों का संपादन भी किया है और वर्षों तक 'पारिजात प्रकाशन, पटना' से 'मुक्त कंठ' नामक पत्रिका का बड़ी सफलता के साथ संपादन भी करते रहे हैं। 'मुक्त कंठ' के माध्यम से अनेक प्रतिभाशाली नए लेखकों को साहित्यिक-मंच पर ला खड़ा करने में शंकरदयालजी की विशिष्ट भूमिका रही है।

अलग-अलग साहित्यिक विधाओं से जुड़ा शंकरदयालजी का लेखन-कार्य देश की लगभग समस्त प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं तथा उनकी अपनी प्रकाशित पुस्तकों के माध्यम से पाठकों एवं साहित्य-मर्मज्ञों के समक्ष समय-समय पर बराबर आता रहा है। उनकी कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें किसी एक ही विधा से संबंधित रचनाएँ हैं तो कुछ पुस्तकों में विविध विधाओं से संबंधित लेख हैं। अब, हमारी यह योजना है कि शंकरदयालजी की अलग-अलग विधाओं से संबंधित समस्त प्रकाशित अथवा

अप्रकाशित रचनाओं को अलग-अलग पुस्तक-खंडों में प्रकाशित किया जाए। इस योजना के अंतर्गत हम उनकी कहानियाँ, निबंध, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत तथा डायरी से संबंधित लेखन-साहित्य को पाँच अलग-अलग खंडों में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने जा रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक 'यह कहानी नहीं है' हमारी उसी योजना का प्रथम चरण है जिसमें शंकरदयालजी की अब तक प्रकाशित तथा अप्रकाशित समस्त कहानियों को स्थान दिया गया है।

जहाँ तक कहानी-लेखन का प्रश्न है, शंकरदयालजी की अधिकांश कहानियाँ छठे दशक के उत्तरार्द्ध तथा सातवें दशक के मध्य लिखी गई हैं तथा इनका प्रकाशन १९७४ से १९८५ के अंतर्गत अलग-अलग कहानी-संग्रहों के माध्यम से हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम खंड में इन्हीं कहानियों को रखा गया है। शंकरदयालजी ने इन कहानियों के अतिरिक्त अनेक 'लघु कहानियों' की भी रचना की है। वस्तुत: ये लघु-कहानियाँ लेखक के 'लघु-भावबोध' हैं जो पाठक के मानस-पटल पर बड़ी ही द्रुत गति से अपने प्रभाव अंकित करने में पूर्णत: समर्थ हैं। प्रस्तुत संकलन के द्वितीय खंड में हमने इन्हीं लघु कथाओं को स्थान दिया है।

सर्जनात्मक साहित्य-लेखन की जिस परंपरा का वहन शंकरदयालजी की लेखनी ने किया है, कहानी-लेखन भी उसी परंपरा का एक अंग है। परंतु, यही एक विधा ऐसी है जिस पर पिछले दस-पंद्रह सालों से लेखक ने लिखना लगभग बंद-सा ही कर दिया है। लेकिन यह इस बात का परिचायक नहीं है कि लेखक को कहानी लिखना प्रिय नहीं है अथवा कहानी अब लेखक के मन में रूपायित नहीं होती। शंकरदयालजी एक संवेदनशील व्यक्तित्व हैं। उनके मानसिक धरातल पर तो कहानियाँ अब भी रूप ग्रहण करती हैं परंतु उनकी मानसिक अभिव्यक्ति लिखित अभिव्यक्ति के रूप में साकार नहीं हो पाती। उसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो व्यस्तताओं से घिरा उनका जीवन-चक्र तथा दूसरे, इन दिनों उनकी रुचि संस्मरण तथा यात्रा वृत्तांत-लेखन की ओर अधिक बढ़ी है, लेकिन हमें पूरी आशा है कि कहानी-लेखन के क्रम में आया यह व्यवधान जल्दी ही समाप्त होगा और वे अपनी नई रचनाओं के साथ पाठकों के समक्ष पुन: उपस्थित होंगे।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह 'यह कहानी नहीं है' का संपादन-कार्य करते समय हम लोगों को अनेक बार शंकरदयालजी से परामर्श लेने की आवश्यकता पड़ी है और आगामी खंडों के प्रकाशन में भी पड़ेगी। परंतु कठिनाई यह है कि उनके व्यस्त समय में से कुछ क्षण पा लेना कोई आसान कार्य नहीं है। फिर भी, उनकी इच्छा-अनिच्छा के बावजूद हम लोग उनके बहुमूल्य समय में से कुछ समय चुरा पाने में सफल हो ही गए हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि शंकरदयालजी का 'सान्निध्य' सदा प्रेरणा और

स्फूर्तिदायक होता है। हम लोगों को उनके सान्निध्य का जो सुख मिला है, उसके लिए हम लोग उनके आभारी हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि हमारी उक्त योजना से तथा हमारे इस प्रयास से पाठकों को तो लाभ होगा ही, साहित्यकारों और साहित्य-समीक्षकों को भी एक ही संग्रह में लेखक की समस्त कहानियाँ आ जाने से सुविधा होगी। इसके अतिरिक्त आज देश के कई विश्वविद्यालयों में शंकरदयालजी के साहित्य पर जो शोध-छात्र शोधकार्य कर रहे हैं, निश्चित ही वे लोग इस योजना से लाभान्वित हो सकेंगे।

नई दिल्ली

—रवि प्रकाश गुप्त
—मंजु गुप्ता

कुछ मैं भी कह दूँ

कहानी का दर्द और कहानी का सौंदर्य अपना होता है। कहानी के बारे में कहानीकार का कहना कुछ भी मायने नहीं रखता, क्योंकि इस संबंध में जो भी कहना हो, वह कहानी स्वयं अपने आप कहेगी। इतना स्पष्ट है कि किसी भी कहानी में किसी-न-किसी रूप में कहानीकार आप्लिप्त रहता है।

मैंने लेखन की शुरुआत कहानी से ही की थी। १९५३ या ५४ में आयोजित एक कथा-प्रतियोगिता में मेरी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला था, जिसे उस समय सराहना मिली तथा 'आज' में प्रकाशित हुई। उसकी प्रेरणा मेरे लेखन पर पड़ी। बाद के दिनों में मेरी धारणा बदल गई और मैंने सोचा कि जब सामयिक संदर्भों में ही लेखन की इतनी सारी बातें तैर रही हैं, तब फिर कल्पना का सहारा क्यों लिया जाए। मेरी इस धारणा के पीछे यह सचाई थी कि सबसे अधिक पाठक समाचार-पत्रों के हैं, जो सामयिक संदर्भों में रुचि रखते हैं अथवा उनसे जूझना चाहते हैं। अखबार आज के जीवन की अनिवार्यता हो गई है, जहाँ शीर्षकों के सहारे आज का आदमी दिन की शुरुआत करता है तथा धारणाओं का संसार गढ़ता है। अत: कहानियों की जगह, सचाइयों से टकराने लगा। कभी संस्मरणों के द्वारा, कभी यात्रा-प्रसंगों के माध्यम से तथा कभी सामयिक संदर्भों को लेकर।

जहाँ तक मुझे याद है, १९८४ के बाद मैंने कोई कहानी नहीं लिखी, लेकिन कहानी का दर्द सदा मेरे अंदर पलता रहा है। आज मुझे प्राय: इलहाम होता है कि राजनीतिक कहानियाँ लिखूँ, क्योंकि सामाजिक, प्रेमपूर्ण और ऐतिहासिक कहानियों की अपेक्षा आज बहुत बड़े पाठक-वर्ग का रुझान इस ओर है।

कहानी अपनी यात्रा में अब काफी आगे निकल चुकी है। कहानी, अकहानी, यथार्थवादी कहानी, आंचलिक कहानी, ग्रामीण कहानी, प्रेम कहानी आदि कई विधाओं में वह विभक्त है। लेकिन इस सबके बावजूद कहानी केवल कहानी होती है, जिसके साथ पाठक का सहभाग भी होता है। हालाँकि आलोचकों-समीक्षकों ने इसे अपनी-अपनी धारणाओं में उलझाने की कोशिश की है, जिन पर कुछ वादों का भी मुलम्मा है:

खुशी की बात है कि आज सौ-दो सौ लघु पत्रिकाएँ ऐसी निकल रही हैं जिनमें कई उल्लेखनीय कहानियाँ देखने को मिल जाती हैं। दूसरी ओर बड़ी पत्रिकाओं में

अधिकतर बड़े नामों का झरोखा ही देखने को मिलता है।

हर कहानी का शीर्षक 'उसने कहा था' या 'पंच परमेश्वर' या 'गदल' या 'धरती अब भी घूम रही है' नहीं हो सकता और हर लेखक का नाम गुलेरी, प्रेमचंद, रांगेय राघव या विष्णु प्रभाकर नहीं होता। लेकिन हर कहानी की तासीर अपनी होती है और उसी प्रकार उस कहानीकार का नाम भी अपना होता है। कहानी की सही पहचान शीर्षक या लेखक के नाम पर न होकर उसकी गहरी छाप पाठक पर क्या पड़ी, वह है।

दुनिया में सबसे अधिक कविताएँ लिखी गई, कहानियाँ पढ़ी गई और उपन्यासों को मान्यता मिली। जाहिर है कि आज जब हर आदमी की जिंदगी भागते पहिए के समान है, वह कहानियों के सहारे ही अपनी पाठकीय क्षुधा की तृप्ति कर सकता है।

मेरी इन बिखरी कहानियों का परिवेश काफी व्यापक है तथा क्रमबद्धता की कमी के कारण भाषा-शैली, कथासूत्र सबकी बेतरतीबी है। इनका एक जिल्द में आना किसी के लेखन की ऐतिहासिक पूँजी हो सकती है।

ये कहानियाँ देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के अंदर प्रकाशित हुई हैं। अनेक ऐसी कहानियाँ जो इस संग्रह में होतीं तो मेरे मन को संतोष होता, लेकिन खोजने-ढूँढ़ने के बाद भी कई कहानियाँ नहीं मिलीं। जो मिल गई और संग्रहीत हो गई, उनके लिए अप्रत्यक्ष रूप से अपने उन पाठकों के प्रति आभारी हूँ, जिनके प्रेम तथा लगाव ने मुझे लेखन की निरंतरता प्रदान की है।

सबके बावजूद यह संग्रह डॉ. रवि प्रकाश गुप्त और डॉ. मंजु गुप्ता के परिश्रम और निष्ठा का फल है। रविजी ने केवल संपादन की औपचारिकता का निर्वाह ही नहीं किया, वरन् निष्ठा का परिचय भी दिया।

अस्थायी पता :
१५, गुरुद्वारा रकाबगंज रोड,
नई दिल्ली-११० ००१

शंकरदयाल सिंह
कामता-सदन,
बोरिंग रोड,
पटना-८०० ००१

साहित्यकार बनाम राजनेता
या
राजनेता बनाम साहित्यकार

किसी भी गुणवान व्यक्ति में आप कितने गुणों की अपेक्षा कर सकते हैं? वह सहज हो, सरल हो, सहृदय हो, मिलनसार हो, मृदुभाषी हो, उदार हो, दूसरों के प्रति सहानुभूति रखता हो, स्वस्थ एवं उदात्त जीवन-मूल्य जिसके जीवनादर्श हों, चारित्रिक बल से ओतप्रोत हो, कुंठाओं से रहित हो, व्यसन और वासनाएँ जिसका द्वार खटखटाते हुए घबराएँ, आकर्षक, प्रभावी एवं लुभावने व्यक्तित्ववाला हो, अपनी मधुर वाणी से सबका मन जीत लेता हो, लोगों का विश्वासपात्र बन सकता हो, सभी को दिलासा देनेवाला हो, झूठे आश्वासन न देता हो, जिससे कभी कोई नाराज ही न होता हो, संपर्क में आनेवाला व्यक्ति यही अनुभव करता हो कि शायद उससे अधिक निकटता किसी और की नहीं, आगंतुकों का बड़ी गरमजोशी से स्वागत करनेवाला हो, जिसके चहरे पर मुसकान सदा अठखेलियाँ करती रहती हो और ठहाका ऐसा लगाता हो कि मानो हास्य रस का स्रोत ही उमड़ पड़ा हो आदि-आदि। इनमें से जितने अधिक गुण आप किसी में पाते हैं आपका मन उस व्यक्ति के प्रति आदर और सम्मान से भर जाता है। ऐसा व्यक्ति सबकी नजरों में ऊँचाइयों पर जा बैठता है। पर क्या कभी ऐसा संपूर्ण व्यक्तित्व आज के समाज में दिखाई देता है? और दिखाई दे भी जाए तो क्या सचमुच उसमें ये गुण जन्मजात संस्कारों से होते हैं? भई, आज का युग तो विज्ञान का युग है। इस युग में मानव ने जहाँ इतनी तरक्की की है वहाँ दूसरी ओर 'बहुगुणी मुखौटे' भी तैयार कर लिए हैं। जिन गुणों के मुखौटे चाहिए, बड़ी आसानी से उपलब्ध हो जाएँगे। लोगों ने संस्कार और ईमान तक बेच डाले हैं, इन 'मुखौटों' की प्राप्ति के लिए। मुखौटा लगाकर आप तात्कालिक यश और वाहवाही तो लूट ही सकते हैं और इधर बेचारे आम आदमी की हालत इतनी दयनीय और नजर इतनी कमजोर हो गई है कि उसके लिए असली और नकली की पहचान कर पाना बहुत कठिन हो गया है। तो मित्रो! जरूरत इस बात की है कि आप यह पहचानें कि असली क्या है और नकली क्या है? अपनी नजर को इतना पैना बनाइए कि वह मुखौटों के पार जा सके और आप यह जान सकें कि व्यक्ति के गुण 'संस्कारजन्य' हैं अथवा 'मुखौटाजन्य'?

वैसे जिन गुणों की लंबी सूची मैंने ऊपर गिनाई है इनमें से कुछ के मुखौटे आज के कुछ साहित्यकारों ने ओढ़ लिए हैं और कुछ के नेताओं ने। इसलिए आज यह पहचानना बड़ा कठिन है कि कौन प्रसाद, निराला, दिनकर जैसे गुणोंवाला साहित्यकार है और कौन गांधी, नेहरू, जयप्रकाश जैसा नेता। बहरहाल आज के जीवन की इस दौड़ में, जहाँ हर आदमी अपने से ऊपरवाले के पीछे दौड़ रहा है, यह पहचानना बड़ा कठिन है कि सचमुच बड़ा साहित्यकार और महान् राजनेता कौन है। और यूँ भी हमारे समाज की यह नियति ही है कि जिसके पास जितने किस्म के अधिक मुखौटे हैं, उसने उतनी ही मंजिलों की ऊँचाइयाँ तय कर ली हैं। ऐसे साहित्यकारों और राजनेताओं को आचार्य शुक्ल की शब्दावली में प्रणाम करते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि "वे धन्य हैं, उन्हें धिक्कार है।"

लेकिन मैं आपका परिचय जिस व्यक्तित्व से कराने जा रहा हूँ उसके नाम से आप परिचित हैं, उसे आप जानते हैं, आज से नहीं, बरसों से। परंतु उससे आप सही मायनों में कितने परिचित हैं या वास्तव में आप कितना जानते हैं, यह जानना आपके लिए अवश्य नई बात होगी। तो साहब! संस्कारों का शुद्ध और निर्मल जल लीजिए, उसमें ऊपर बताए गए सभी गुण एक-एक करके घोल लीजिए, फिर उसमें जीवन की ऊष्मा का संचार कीजिए, तब आपके समक्ष आत्मबल से ओतप्रोत जिस तेजस्वी 'राजनेता बनाम साहित्यकार' का उदय होगा, उसे आप चाहें तो शंकरदयाल सिंह कह सकते हैं।

जी हाँ! भारतीय राजनीति का क्षेत्र तथा हिंदी साहित्य जगत् आज इस नाम से अपरिचित नहीं है परंतु सही अर्थों में शंकरदयालजी को कितने लोगों ने जाना है, यह बता पाना थोड़ा कठिन अवश्य है। पिछले कुछ दिनों से उनके निकट आने का जो सौभाग्य मुझे मिला है, उनके व्यक्तित्व के जिन पहलुओं को मैंने निकटता से देखा है, जो अनुभव मुझे हुए हैं, आज उन्हीं अनुभवों को आपके साथ बाँटने का साहस इस लेख के माध्यम से कर रहा हूँ।

शंकरदयालजी को क्या माना जाए? वे पहले साहित्यकार हैं या राजनेता या पहले राजनेता हैं और बाद में साहित्यकार? ऐसा लगता है, राजनीति और साहित्य उनके व्यक्तित्व में घुल-मिल गए हैं। जीवन के कुछ पक्षों में कभी उन पर राजनीति हावी होती हुई दिखाई देती है तो कुछ अन्य पक्षों में साहित्य। इसलिए मेरे लिए तो यह तय कर पाना बड़ा कठिन कार्य है कि मैं उनको 'राजनीतिज्ञ बनाम साहित्यकार' से संबोधित करूँ या 'साहित्यकार बनाम राजनीतिज्ञ' से। यह निर्णय मैं साहित्यकारों और राजनेताओं पर ही छोड़ता हूँ कि वे उन्हें क्या मानना चाहते हैं। मैं तो उनको साहित्यकार और राजनीतिज्ञ से भी ऊपर एक महान् व्यक्ति के रूप में ही देखता हूँ।

उसी महान् व्यक्तित्व में ही तो साहित्य और राजनीति ने आकर शरण पाई है।

यों तो 'बिहार की माटी' में ही कुछ ऐसे गुण हैं जिसने बड़े-बड़े राजनेता और बड़े-बड़े साहित्यकारों को जन्म दिया है। राजेंद्र बाबू, जयप्रकाश नारायण, गंगाबाबू, दिनकर आदि उसी मिट्टी की देन हैं। शंकरदयालजी उसी शृंखला की एक कड़ी हैं। यों तो चार-छः पुस्तकें आप अपने नाम से छपवा लीजिए और एकाध चुनाव में कूद पड़िए, लोग आपको साहित्यकार या नेता मानने लगेंगे। परंतु शंकरदयालजी न तो वैसे साहित्यकार ही हैं और न ही आज के राजनेताओं जैसे नेता। जहाँ तक साहित्य-लेखन का प्रश्न है, उनकी लगभग तीस पुस्तकें तथा अनगिनत लेख देश की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर सामने आ चुके हैं जिनमें उनकी मौलिकता, कारयित्री-प्रतिभा, अनुभूति की प्रामाणिकता और उनके अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। जहाँ तक राजनीति के क्षेत्र का प्रश्न है, दो बार संसद की सदस्यता, बड़े-बड़े राजनेताओं और राष्ट्रनेताओं के साथ सान्निध्य और नैकट्य तथा गांधीवादी जीवन-मूल्यों के अनुगमन से जो राजनीतिक व्यक्तित्व उनका विकसित हुआ है, इसके कारण उन्हें राजनीति के क्षेत्र में भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है और वहाँ भी उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

वैसे तो आज भारतीय समाज में राजनीति और राजनीति के अखाड़ेबाजों की जो छवि उभरकर सामने आई है, जो कीर्ति उन्होंने प्राप्त की है और जो 'इमेज' उन्होंने कायम की है वह कितनी सम्मान करने योग्य है, यह कहना कठिन है। परंतु दुर्भाग्य यह है कि सारा समाज, सारा देश इन्हीं राजनेताओं के पीछे ही दौड़ रहा है। यहाँ तक कि आज का साहित्यकार भी इस दौड़ में अपने को पीछे नहीं रख पाया है। साहित्यकारों को भी न जाने कैसा विश्वास हो गया है कि मानो उनके साहित्य की मर्यादा राजनीति में जाकर ही समाप्त होगी। उनके साहित्य पर जब तक राजनीति का ठप्पा नहीं लगेगा, उनके साहित्य की कीमत नहीं उठेगी। परंतु जब-जब मैं साहित्यकार शंकरदयालजी के विषय में सोचता हूँ तब-तब एक ही प्रश्न मेरे मन में सदा उठता है—यह व्यक्ति कैसा राजनीतिज्ञ है? आज के तथाकथित राजनेताओंवाले गुण तो इस व्यक्ति में एक भी नहीं हैं। तब इसे राजनेता कहा भी जाए अथवा नहीं?

इतने वर्षों से राजनीति के क्षेत्र में कार्यरत, बड़े-बड़े नेताओं, मंत्रियों, राज्यपालों, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति से समय-समय पर इतनी निकटता का संबंध, समस्त राजनीतिक हस्तियों के बीच लोकप्रिय शंकरदयालजी कैसे राजनीतिज्ञ हैं जिन्हें कभी कोई पद-लालसा नहीं व्यापती। अन्य नेताओं की तरह न कभी जोड़-तोड़, न किसी से साँठ-गाँठ, न किसी के साथ धोखाधड़ी, न किसी के साथ हेर-फेर और न कभी किसी का विशिष्ट कृपापात्र बनने की चाहत और न ही अपने कृपापात्र खड़े करने की लालसा।

स्पष्टवादिता ऐसी कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति के समक्ष सच बोलने में कोई हिचकिचाहट नहीं, झूठे आश्वासन और प्रलोभन देने में विश्वास नहीं, गलत धन कमाने की कामना नहीं और व्यसनों एवं भोगों के प्रति अनुराग नहीं। आज के नेताओंवाला एक भी गुण तो दिखाई नहीं देता शंकरदयालजी में। फिर कहाँ के राजनेता हुए। नेता ऐसे तो नहीं होते।

आज आदमी 'बड़ा' विशेषण पकड़ने की चाहत में ही हाथ-पैर मार रहा है। मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि आज के इस भौतिकवादी युग में 'बड़ा' विशेषण की रिश्तेदारी 'सुरा और सौंदर्य' से सीधे-सीधे है। इन दोनों का जितना अधिक सेवन कीजिए, 'बड़े' का तमगा अपने सिर पर लगवाते चलिए। फिर चाहे आप बड़े व्यापारी हों, बड़े राजनेता हों, बड़े भाषाविद् या बड़े साहित्यकार हों। भागीरथी में डुबकी लगाकर भले ही आप स्वर्ग तक पहुँचें या न पहुँचें, सुरा-सौंदर्य की भागीरथी में डुबकी लगाकर आप तथाकथित 'बड़े' की श्रेणी में एकदम पहुँच जाते हैं। फिर इस सुख के आगे तो शायद स्वर्ग का सुख भी फीका हो! हमारे राजनेता शंकरदयालजी तो इस दौड़ में भी पीछे ही रह गए हैं। यह तथाकथित 'बड़ा' विशेषण उनके महत् आदर्शों से कभी अधिक बड़ा साबित नहीं हो पाया है।

महात्मा गांधी ने जो जीवन-मूल्य हमारे सामने रखे थे उनको कुछ वर्ष पहले हमने पुस्तकों में सजाकर रख दिया था। आज तो हमने उन पृष्ठों को भी फाड़ डाला है और अब कोशिश यह है कि नए संस्करणों में इन मूल्यों की बात कोई धोखे से भी न छाप दे। इसके लिए आज का पूरा राजनीतिक समुदाय सजग होकर पहरेदारी कर रहा है। आज तो शायद ही कोई यह माने कि राजनीति की भी कोई स्वस्थ परंपरा हो सकती है, मर्यादा हो सकती है, आदर्श हो सकते हैं। परंतु आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज की इस राजनीतिक आपाधापी में भी एक व्यक्ति ऐसा है जिसने राजनीति की प्राचीन पुस्तक को अपनी धरोहर बना रखा है। उसने अपनी प्रकृति को, अपने स्वभाव को, अपने कार्यकलापों को और अपने व्यक्तित्व को गांधी और नेहरू की लौ के प्रकाश से प्रकाशित कर रखा है। शायद यही कारण है कि शंकरदयालजी के व्यक्तित्व ने राजनीति को भी अपने रंग में अपने अनुरूप रँग लिया है। वे स्वयं इस गँदली राजनीति के गढ़े में कभी नहीं धँसे हैं। राजनीति तो उनके लिए प्रतिष्ठा है, आत्मबल है, जीवन के अन्य क्षेत्रों में कार्यरत होने की प्रेरणा है। उन्होंने राजनीति के अच्छे और बुरे तथा गलत और सही, दोनों पहलुओं को बड़ी बारीकी से परखा है। सागर से दूर बैठकर सागर की कहानी कल्पना से खड़ी तो की जा सकती है पर सचाई की अनुभूति तो उसी व्यक्ति के पास होती है जो सागर के अंदर घुसा हो। शंकरदयालजी राजनीति के इस अथाह सागर में गहरे ही नहीं उतरे हैं, उन्होंने तो इस

सागर का मंथन भी कर डाला है। इस मंथन से उन्हें एक ओर जो आदर्श जीवन-मूल्य प्राप्त हुए हैं उनको उन्होंने अपने जीवन की धरोहर बना लिया है और मंथन से जो कुछ विषाक्त प्राप्त हुआ है उसका उन्होंने पान कर लिया है। परंतु उस विषाक्त को भगवान् शंकर की तरह अपने गले से नीचे नहीं उतरने दिया। यही कारण है कि शंकरदयालजी के साहित्यकार को आधारभूमि राजनीति ने ही प्रदान की है। राजनीतिक जीवन की अनेकानेक कटुताओं और विषमताओं को उजागर करने में साहित्य उनके लिए एक माध्यम बनकर सामने आया है।

भारतीय राजनीति का जीवन कुटिलता, छलछद्म, प्रतिस्पर्धा, राग-द्वेष से इतना ग्रसित हो चुका है कि इसमें सहज और सरल व्यक्ति का निर्वाह असंभव ही नहीं, अत्यंत दूभर भी है। परंतु शंकरदयालजी ने अपने राजनीतिक जीवन के सौंदर्य पर कभी इन सबकी छाया तक नहीं पड़ने दी। वे राजनेता होकर भी छिछली राजनीति से दूर ही रहे हैं। पंक से जन्म लेनेवाला पंकज सदैव पंक से दूर ही रहता है, इसी तरह से शंकरदयालजी ने राजनीतिक पंक के छींटे भी अपने ऊपर नहीं पड़ने दिए हैं। वे राजनीति के इस सरोवर में रहकर भी अपने को जल के ऊपर ही तैराते रहे हैं। शाश्वत जीवन-मूल्यों ने उनके अंतरंग और बहिरंग को मृदुलता एवं सौम्यता प्रदत्त की है। जीवन में कुछ कमियाँ हर व्यक्ति में होती हैं और हो सकती हैं परंतु महान् लोग वे होते हैं जो अपनी कमियों और त्रुटियों को नजरअंदाज नहीं करते बल्कि निरंतर अपने में सुधार लाने का अथक प्रयास करते रहते हैं। शंकरदयालजी के इसी प्रयास ने उन्हें एक असाधारण व्यक्तित्व प्रदान किया है। यही कारण है कि चाहे उनकी अपनी 'पार्टी' के लोग हों या दूसरी 'पार्टी' के, सभी उनका सम्मान करते हैं। उनके घर पर सवेरे से शाम तक तरह-तरह के मिलनेवालों का ताँता लगा रहता है। ऐसा दृश्य तो मैंने केवल मंत्रियों के डेरे पर ही देखा है जहाँ हर आदमी कुछ पाने के लिए जाना चाहता है। परंतु शंकरदयालजी के यहाँ आगंतुकों की भीड़ देखकर मैं अभी तक यह तय नहीं कर पाया कि लोग यहाँ क्या माँगने आते हैं। मुझे तो लगता है कि यह उनके सौम्य व्यक्तित्व का ही आकर्षण है जिसकी डोर से बँधकर लोग खिंचे चले आते हैं। एक बार बात करके उनसे बार-बार बात करने की इच्छा लेकर ही व्यक्ति लौटता है।

जिसने शंकरदयालजी के जीवन को निकटता से नहीं देखा वह यह कल्पना कभी नहीं कर सकता कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण कितना व्यस्त है। यात्रा करना उनकी नियति बन गई है। प्राय: सप्ताह में दो-तीन दिन तो वे शहर से बाहर ही रहते हैं और शेष दिनों में संसदीय मामलों से संबंधित बैठकों में उलझे रहते हैं। फिर जो समय बचता है उसमें मिलने-जुलनेवाले घेरे रहते हैं। मैं अब तक नहीं समझ पाया, इस सबके बावजूद भी उनके चेहरे पर थकान के स्थान पर प्रसन्नता ही कैसे खिली

रहती है।

राजनीतिक जीवन की इतनी भारी व्यस्तता के बाद भी शंकरदयालजी एक आदर्श गृहस्थ हैं। उनका पारिवारिक जीवन अत्यंत ही संतुलित एवं व्यवस्थित है, जिसमें भारतीय आदर्शों की स्पष्ट झलक आप देख सकते हैं।

जहाँ तक साहित्यकार शंकरदयालजी का प्रश्न है, उनका राजनीतिक व्यक्तित्व ही उनके साहित्य में प्रतिफलित हुआ है। आज हिंदी साहित्य जगत् में संस्मरण और यात्रा-वृत्तांत लेखन में जो प्रतिष्ठा उनको प्राप्त हुई है, ऐसी कम लेखकों को ही प्राप्त होती है। हिंदी साहित्य के इतिहास में संस्मरण एवं यात्रा-वृत्तांत लेखन के क्षेत्र में वे एक ऐसे 'आकाशदीप' की भाँति प्रतिस्थापित हैं जो अपने प्रकाशपुंज से दूसरों का मार्ग प्रशस्त करता है। लेकिन शायद आपको यह सोचकर अवश्य आश्चर्य होता होगा कि जो व्यक्ति अपने जीवन में इतना व्यस्त रहता है, जिसका अधिकांश समय देश-विदेश की यात्राओं में ही बीत जाता है वह 'लेखन' के लिए समय और अवसर कब निकाल लेता है? प्रात: सात बजे से लेकर रात के ग्यारह बजे तक बैठकें या मिलने-जुलनेवालों का सिलसिला। तब सवाल उठना स्वाभाविक ही है कि वे साहित्य-लेखन कब कर लेते हैं। परंतु शंकरदयालजी शायद उस प्रकार के साहित्यकार नहीं हैं जिन्हें साहित्य-लेखन के लिए कोई बहुत बड़ी योजना और पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती हो। साहित्य-लेखन उनके व्यक्तित्व की सहज अभिव्यक्ति है। लेखन उनके व्यक्तित्व का सहज गुण है। यों तो वे प्रात: चार बजे नियम से उठ जाते हैं और रात्रि को एक-डेढ़ बजे तक जागते हैं। परंतु रात्रि का कुंछ समय तथा प्रात: के कुछ घंटे वे अवश्य अपनी साहित्य-सर्जना में व्यतीत करते हैं। परंतु जो मूलत: साहित्यकार होता है उसकी अभिव्यक्ति तो उसके अपने व्यवसाय के साथ ही होती रहती है। कहते हैं, प्रसादजी ने तंबाकू बेचते-बेचते 'कामायनी' तक के कुछ सर्ग रच डाले थे। शंकरदयालजी का व्यवसाय तो राजनीति ही है। वे अपना अधिकांश लेखन इन्हीं राजनीतिक यात्राओं के दौरान 'ट्रेन' में या वायुयान में ही कर लेते हैं। इस उम्र में इतने व्यस्त जीवन के बाद भी साहित्य-लेखन के प्रति उनकी सजगता युवा साहित्यकारों के लिए प्रेरणा की वस्तु है। साहित्य-लेखन के प्रति उनकी गहरी निष्ठा, लेखन के प्रति उनकी ललक श्लाघ्य है। यों तो वे हर कार्य में ही अपने को पहले राजनेता मानते हैं और अपने 'साहित्यकार' को भी अपने 'राजनीतिज्ञ' के समक्ष गौण मानते हैं परंतु मैं समझता हूँ कि उनकी यह भावना ही साहित्य के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा की परिचायक है।

शंकरदयालजी की अनेक पुस्तकें प्रकाशित होकर सामने आई हैं जिनमें कुछ संस्मरण हैं, कुछ यात्रा-वृत्तांत, कुछ में वैयक्तिक और ललित निबंध तथा कुछ कहानियों के संग्रह। इनके अलावा उनकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें 'युद्ध के आसपास' (१९७१ में

प्रकाशित) तथा 'इमर्जेंसी : क्या सच क्या झूठ' (१९७७ में प्रकाशित) बहुचर्चित रही हैं। ये दोनों ही पुस्तकें इतिहास की धरोहर समझी जानी चाहिए। आगे आनेवाला युग जब इतिहास के पृष्ठ पलटना चाहेगा तब इन पुस्तकों का महत्त्व और भी बढ़ जाएगा। अपनी प्रकृति में ये पुस्तकें इतिहास, कहानी, यात्रा-वृत्तांत और रिपोर्ताज के कला-कौशल को समाहित किए हुए हैं। साहित्य-लेखन के अलावा शंकरदयालजी ने कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों का संपादन भी किया है जिनमें उनके अपने लेखों के अलावा देश के प्रतिष्ठित साहित्यकारों एवं राजनीतिज्ञों के लेख संकलित हैं। इनमें डॉ. कर्णसिंह के जीवन पर 'एक सौम्य व्यक्तित्व' तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को समर्पित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-स्मृति धरोहर' उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त शंकरदयालजी के संपादन में प्रकाशित पुस्तक 'बिहार : एक सांस्कृतिक वैभव' उनके अपने प्रांत की कला, संस्कृति, अध्यात्म, दर्शन, विद्या, शौर्य आदि के वैभव को उजागर करनेवाली कृति है। भारत की सभ्यता, संस्कृति, इतिहास और चिंतन के क्षेत्र में बिहार के योगदान की इससे सुंदर झाँकी आपको संभवत: किसी और पुस्तक में देखने को न मिले। इस पुस्तक में संपादकीय के अतिरिक्त शंकरदयालजी के तीन प्रसिद्ध लेख संग्रहीत हैं जो साहित्य, संस्कृति, इतिहास, धर्म और दर्शन के प्रति उनकी गहरी आस्था के परिचायक हैं। अज्ञेय की याद में अज्ञेय के प्रति समर्पित उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'याद एक यायावर की' संस्मरणों की श्रृंखला में हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है।

इसके अतिरिक्त शायद यह बात कम ही लोगों को मालूम हो कि शंकरदयालजी एक सफल पत्रकार और संपादक भी रहे हैं। सोलह वर्षों तक उन्होंने 'पारिजात प्रकाशन, पटना' से प्रकाशित 'मुक्त कंठ' का सफलता से संपादन भी किया है। 'मुक्त कंठ' का समापन अंक १९८४ में प्रकाशित हुआ था। जिन लोगों ने भी 'मुक्त कंठ' के पुराने अंक देखे होंगे, वे जान सकते हैं कि इसके माध्यम से अनेक साहित्यकारों को पाठकों के समक्ष आने का अवसर तो प्राप्त हुआ ही, साथ ही शंकरदयालजी ने इस पत्रिका के माध्यम से अनेक पाठकों को गुदगुदाने, सहलाने और उद्वेलित करने में सफलता प्राप्त की। यों तो 'मुक्त कंठ' के बंद हो जाने से समस्त हिंदी जगत् को आघात लगा था परंतु शंकरदयालजी के साहित्यकार को काफी सदमा पहुँचा था क्योंकि 'मुक्त कंठ' उनके लिए ''भावना से अधिक निष्ठा का, निष्ठा से अधिक कर्तव्य का, कर्तव्य से अधिक साहित्य के संदर्भ का मानदंड'' रहा था।

प्रस्तुत संग्रह में शंकरदयालजी की अब तक प्रकाशित समस्त कहानियों को एक ही जिल्द में प्रकाशित करने का प्रयास किया जा रहा है। शंकरदयालजी के अब तक कुल छ: कहानी संग्रह प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष आ चुके हैं। शंकरदयालजी के साहित्यकार का मन जितना संस्मरण और यात्रा-वृत्तांत लिखने में रमता है उतना

साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ छठे दशक के उत्तरार्द्ध और सातवें दशक के मध्य लिखी गई कहानियाँ हैं। यह अलग बात है कि उनका प्रकाशन बाद में जाकर हुआ है, अत: इन कहानियों का मूल्यांकन तत्कालीन युग की परिस्थितियों के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए।

शंकरदयालजी का पहला कहानी संग्रह १९७४ में प्रकाशित हुआ तथा यह क्रम १९८५ तक चला। शंकरदयालजी ने बड़ी कहानियों के अलावा अनेक लघु कहानियाँ भी लिखी हैं। लेखक के लिए ''कहानी छोटी-बड़ी निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है।'' कभी वह अभिव्यक्ति एक बड़ी कहानी के रूप में हो जाती है तो कभी छोटी कहानी के रूप में। इस दृष्टि से शंकरदयालजी ने अपने इन लघु भाव-बोधों को लघु-कथा बोधों में परिणत किया है अपने लघु कथा संग्रह 'मुरझाये फूल, पंखहीन बटेर' में। इस कहानी संग्रह का प्रकाशन १९८६ में हुआ था। १९९० में शंकरदयालजी का कहानियों का अंतिम संग्रह प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक है 'पास-पड़ोस की कहानियाँ'। इस प्रकार यदि आप ध्यान दें तो शंकरदयालजी की समस्त कहानियाँ १९७४ से १९८५ के मध्य प्रकाशित हुई हैं। लघु कहानियों का संग्रह अवश्य इन कहानियों के बाद १९८६ में प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार लगभग पिछले बीस वर्षों से तो शंकरदयालजी ने कहानी लिखने का कार्य लगभग बंद ही कर दिया है। इसका कारण शायद जीवन की व्यस्तताएँ भी हो सकता है और कहानी-लेखन की अपेक्षा संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत लेखन की ओर उनका अधिक रुझान भी हो सकता है।

शंकरदयालजी की कोई भी साहित्यिक रचना क्यों न हो, सभी में उनके अपने राजनीतिक और सामाजिक जीवन का अनुभव प्रखर रहता है। यही कारण है कि उनके लेखन में अनुभव की जिस प्रामाणिकता के दर्शन होते हैं, वैसा बहुत कम साहित्यकारों के लेखन में दिखाई देता है। शंकरदयालजी के साहित्यकार को संस्मरण-लेखन कितना प्रिय है, उनकी कहानियाँ पढ़कर भी इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी अधिकांश कहानियाँ 'संस्मरणात्मक कहानियाँ' कही जाएँ तो यह अत्युक्ति न होगी। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई उनकी कहानियाँ पाठक को पढ़ते-पढ़ते यह भ्रम पैदा करती हैं कि कहीं वे संस्मरण तो नहीं। बार-बार कहानी के पृष्ठों को उलट-पलट-कर देखना पड़ता है कि जिन पात्रों के बारे में लेखक कुछ कह रहा है, वे कहीं यथार्थ जगत् के लौकिक पात्र तो नहीं? लेखक कहानी को जिस ढंग से आगे बढ़ाता है, घटनाक्रम का निर्माण करता है, वे सब यही आभास कराते हैं कि यह कहानी नहीं, कोई संस्मरण है। उनकी इस प्रकार की कहानियों को यदि 'संस्मरणों' के बीच रख दिया जाए तो यह पता लगाना कठिन हो जाए कि यह कहानी है, संस्मरण नहीं। इस दृष्टि से 'कितना क्या अनकहा', 'मोहरसिंह', 'यह कहानी नहीं है', 'शिष्टमंडल', 'संघर्ष के बाद',

'आखिर मेरी कलम चली गई', आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं, जिनमें कल्पना-कौशल कम, यथार्थ जीवन के चित्र अधिक चित्रित हुए हैं।

उदाहरण के लिए 'आखिर मेरी कलम चली गई' कहानी में कथातत्त्व कम, लेखक का अपनी लेखनी के प्रति कितना मोह होता है, इस तथ्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। वास्तविक जीवन में भी जो लोग शंकरदयालजी से परिचित हैं, वे जानते हैं कि उन्हें तरह-तरह की देशी-विदेशी कलमें एकत्रित करने का बड़ा शौक है। यह बात उनके यात्रा-वृत्तांतों से भी स्पष्ट होती है कि वे जब-जब विदेश-यात्रा पर गए, वहाँ से तरह-तरह की कलमें खरीदकर अवश्य लाए। 'आखिर मेरी कलम चली गई' कहानी में लेखक जिस 'माउंट ब्लैंक' कलम के विषय में लिखता है और जिसके चले जाने का दर्द कहानी में अभिव्यक्त हुआ है, बार-बार ऐसा आभास कराता है कि लेखक किसी सत्य घटना का वर्णन कर रहा है और तब यह कहानी, कहानी न लगकर शुद्ध संस्मरण जैसी प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार उनकी प्रसिद्ध कहानी 'मोहरसिंह' में मोहरसिंह का चरित्र जिस रूप में उद्घाटित किया गया है उससे यही भ्रम होता है कि 'मोहरसिंह' लेखक के जीवन-अनुभवों के बीच आया कोई वास्तविक पात्र ही है।

इसी प्रकार 'कितना क्या अनकहा' कहानी में दीदी का जो चरित्र शंकरदयाल जी ने प्रस्तुत किया है और दीदी के सान्निध्य में कहानी में लेखक का जो चरित्र विकसित होकर सामने आया है, वह चरित्र यह भ्रम पैदा करता है कि यह 'दीदी' कोई काल्पनिक पात्र नहीं है, और दीदी के आदर्शों ने लेखक के चारित्रिक बल को नहीं बढ़ाया है बल्कि स्वयं शंकरदयालजी के जीवन-आदर्शों के विकास की ही तो यह कहानी नहीं है? कहानी पढ़ने पर ऐसा भ्रम पैदा होता है कि शंकरदयालजी किसी वास्तविक 'दीदी' के विषय में संस्मरण लिख रहे हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शंकरदयालजी की इन अधिकांश कहानियों में जीवन की यथार्थ अनुभूतियाँ अधिक मुखरित हुई हैं। कल्पना की उड़ान इनमें कम है। इस दृष्टि से उनकी कहानियों में दूसरे कहानी लेखकों से थोड़ी भिन्नता हो जाती है। शंकरदयालजी की कहानियाँ दूसरे कहानीकारों से इस रूप में भी भिन्न हैं कि उनमें लेखक का रुझान आदर्श की ओर अधिक रहता है। शंकरदयालजी अपने वास्तविक जीवन में कुछ आदर्शों को लेकर आगे बढ़े हैं। वे आदर्श, आम आदमी के लिए हो सकता है असामान्य स्थितियाँ हों, परंतु शंकरदयालजी के जीवन में ये आदर्श सामान्य रूप में ढल गए हैं। अपने लेखन में भी वे इन्हीं आदर्श जीवन-मूल्यों की प्रतिस्थापना करते हैं। कहानियों में आदर्श पात्र खड़े करना, नारी और पुरुष पात्रों के बीच आदर्श स्थितियाँ खड़ी करना, पात्रों का निरंतर आदर्श जीवन-मूल्यों के लिए संघर्ष करना, उनके कहानी-लेखन की स्वाभाविक विशेषता है। हो सकता है पाठकों को कहानियों के आदर्शवादी पात्र, घटनाएँ, वातावरण आदि देखकर ऐसा

प्रतीत हो कि यह सब तो सामान्य जीवन में नहीं होता; क्योंकि मनुष्य तो हाड़-मांस का पुतला है, उसमें पाप भी है, पुण्य भी है, अच्छाई भी है और बुराई भी है। दूसरी ओर लेखक जिस तरह के पात्र खड़े करता है उनमें मानवीय स्वाभाविक कमजोरियाँ कम दिखाई देती हैं या कहीं-कहीं दिखाई भी नहीं देतीं। तो पाठकों को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह तो यथार्थ का चित्रण न होकर कल्पना से उद्‌भूत स्थितियाँ हैं, क्योंकि सामान्य जीवन में ऐसे चरित्र प्रायः देखने को नहीं मिलते। उदाहरण के लिए 'कितना क्या अनकहा' में 'दीदी' के चरित्र को ही लीजिए। लेखक ने 'दीदी' का जिस प्रकार का चरित्र कहानी में खड़ा किया है, वह अतिमानवीय लगता है। ऐसे चरित्र आपको सामान्य जीवन में तो शायद ही दिखाई दें।

गांधीवादी उच्च आदर्शों की जो छाप उनके युवा मस्तिष्क पर पड़ी थी, वही आज भी उनके जीवन को संचालित कर रही है। वे आदर्श ही उनके साहित्य में जगह-जगह आ खड़े होते हैं। 'संघर्ष के बाद' उनकी ऐसी ही कहानी है।

लेखक के मन में भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति सदैव से ही एक मोह रहा है। उसने अपने वास्तविक जीवन को इन्हीं आदर्शों पर शुरू से ढाला है और कहानियों में भी ये ही आदर्श प्रतिफलित हुए हैं। लेखक के लिए भारतीय आदर्शों में पली नारी, चाहे वह 'कितना क्या अनकहा' की दीदी हो या 'और विश्वास टूट गया' की कमल, अथवा 'संघर्ष के बाद' की उषा, मात्र नारी नहीं है, देवी है। इसी प्रकार अन्य कहानियों में भी कहीं आदर्श का प्रतिस्थापन लेखक घटनाओं के माध्यम से करता है, तो कहीं आदर्श चरित्र खड़े करके। लेखक की प्रसिद्ध कहानी 'मोहरसिंह', जो कहानी कला की दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट कहानी है, में 'मोहरसिंह' का चरित्र भी एक आदर्श चरित्र के रूप में सामने आता है।

शंकरदयालजी आरंभ से ही भारतीय राजनीति में रहे। देश की आजादी के बाद अन्य उच्च आदर्शवादी राष्ट्रीय नेताओं की भाँति चाहते रहे कि उनके स्वतंत्र भारत में गांधी के जीवन-मूल्य पुष्पित और पल्लवित हों। भारतीय समाज का ऐसा ढाँचा तैयार हो जिसमें सबको समानता का दरजा मिले, सबको समान हक मिलें। लोग अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता का महत्त्व समझें। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का अंधानुकरण इस देश की युवा पीढ़ी न करे। जो आदर्श हमारी संस्कृति ने हमें दिए हैं हम उनका अनुसरण करें। इसीलिए शंकरदयालजी के व्यवहार में यदि एक आदर्शवादी राजनेता के दर्शन होते हैं तो उनके मन में एक आदर्शवादी साहित्यकार घर किए हुए है। उनकी अधिकांश कहानियों में इसी साहित्यकार के अंतर्मन की अभिव्यक्ति आपको दिखाई देगी।

शंकरदयालजी की कहानियों में यही आदर्श और मर्यादा की भावना हमें नारी

और पुरुष के संबंधों में भी दिखाई देती है। लेखक के लिए नारी और पुरुष के संबंध खिलवाड़ बनकर कभी नहीं आते। ये संबंध सात्त्विक प्रेम की निश्छल भूमि पर खड़े किए जाते हैं। ऐसा प्रेम जो अपने स्वरूप में निर्मल है और अपेक्षाओं से रहित है। उस प्रेम में आपको वासना की गंधमात्र भी नहीं दिखाई देगी। इस दृष्टि से उनकी कहानी 'आत्मदाह' देखी जा सकती है।

लेखक के अपने मन में 'प्रेम' एक ऐसी निर्मल धारा है जो प्रत्येक व्यक्ति-मन में प्रवाहित रहती है। वासना और शारीरिक संबंध इस स्रोतस्विनी को गँदला बना देते हैं। लेकिन शंकरदयालजी की कहानियों में आपको यह प्रेम-धारा अपने निर्मल जल के साथ ही बहती हुई मिलेगी। उसमें प्रेमियों के हृदय ही डुबकियाँ लगाते हैं, शरीर नहीं। इस दृष्टि से उनकी 'समझौतों में बँधी जिंदगी' कहानी भी एक महत्त्वपूर्ण कहानी है।

शंकरदयालजी की कहानियों में उनके अपने व्यक्तिगत जीवन की ही भाँति जीवन और जगत् की विकृतियों पर दृष्टिपात कर उदात्त एवं स्वस्थ मानवीय मूल्यों की स्थापना ही देखने को मिलेगी। उदात्त चरित्र उच्चतम आदर्शों के बंधनों में बँधे हमारे समक्ष आते हैं। इन पात्रों में एक ओर निर्मल चारित्रिक तेज के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर उनके कार्यकलाप अति मानवीय गुणों से ओतप्रोत हैं। तुलसी की 'जाकी रही भावना जैसी'-वाली उक्ति शंकरदयालजी पर शत-प्रतिशत लागू होती है। उन्होंने अपने दैनिक जीवन का महल आदर्श की जिस कठोर भूमि पर निर्मित किया है, अपनी कहानियों में भी वे अपनी कल्पना का सहारा लेकर उसी प्रकार के उदात्त एवं आदर्श रूपों के बिंब खड़े करते हैं। अमृतराय ने एक स्थान पर उनकी कहानियों के विषय में सही ही लिखा है — "उनकी सर्जक दृष्टि बहुत से नए कहानीकारों के समान जीवन की विकृतियों पर नहीं, बल्कि उसके स्वस्थ, उदात्त रूपों पर ठहरती है जो उनके अनुभव कोश में से निकलकर उनकी रचनाओं में उतर आए हैं।"

शंकरदयालजी की कहानियों में हास्य का पुट भी है और व्यंग्य की तीक्ष्णता भी। उनकी कहानियों में कथ्य की सहजता उन्हें अन्य कहानीकारों से भिन्न करती है। मानवीय संवेदनाओं का इतना सशक्त चित्रण कम ही कहानीकारों में दिखाई देता है। उनकी कहानियाँ तो उनके अपने आत्मबोध की परिणति हैं। उनकी कहानियों का प्रत्येक पात्र पाठक के मन पर अपनी छाप छोड़ जाता है। ऐसा लगता है कि मानो लेखक के जीवन का सत्य ही अलग-अलग कहानियों में विभिन्न पात्रों के रूप में रूपायित हो गया है।

शंकरदयालजी ने ग्रामीण और नागरिक दोनों ही परिवेशों को व्यक्त करनेवाली कहानियाँ लिखी हैं। कहानियाँ चाहे जिस परिवेश को लेकर चलें, वे सब खड़ी हैं

एक ठोस आधारभूमि का सहारा लेकर। परिवेश गाँव का हो या शहर का, लेखक परिवेश की महक से पाठक के मन को सुवासित करता चलता है। उस सबके ऊपर लेखक की ईमानदारी का तो जवाब नहीं। पाठक को यह आभास तक नहीं होता कि वह कल्पना की दुनिया की सैर कर रहा है। बल्कि वह तो स्वयं को इस परिवेश के साथ इस प्रकार जोड़ लेता है कि लेखक की अनुभूतियाँ उसकी अपनी अनुभूतियाँ बन जाती हैं। लेखक तो अपने लेखन के माध्यम से दिशा निर्देशक की भूमिका का निर्वाह करता है। उनकी कहानियों में जो ताजगी दिखाई देती है, वह लेखक के अपने आत्मबोध और भावबोध से भरी अनुभूतियों का ही परिणाम है, मात्र कल्पना का चमत्कार नहीं। उन्होंने अपनी खुली आँखों से जो कुछ समाज में घटित होते देखा है, जैसा अनुभव किया है, वही सब उनकी कहानियों के कलेवर में साक्षात् उतर आया है।

'राजनीति' शंकरदयालजी के जीवन का एक अविभाज्य घटक है। राजनीतिक-चक्र को जितनी निकटता से उन्होंने देखा और अनुभव किया है उतना हिंदी के अन्य किसी साहित्यकार ने शायद न किया हो। यही कारण है कि राजनीतिक जीवन और परिवेश पर आधारित उनकी अनेक कहानियाँ बड़ी ही सशक्त बन पड़ी हैं। 'वे मानने वाले न थे' तथा 'उन्होंने जब ताल ठोंकी' शंकरदयालजी की राजनीतिक परिवेर्श के कुचक्र पर व्यंग्य करनेवाली कहानियाँ हैं। 'उन्होंने जब ताल ठोंकी' में लेखक ने राजनीतिक जीवन की चालों-कुचालों, चुनाव के समय फैलाए जानेवाले जालों और मंत्रणाओं, राजनीतिक हथकंडों को उजागर करने का प्रयास किया है। यहाँ यथार्थ अपनी सीमाएँ लाँघकर कल्पना में और कल्पना अपने पंखों को समेटकर यथार्थ में अंतर्भुक्त होती हुई-सी प्रतीत होती है। यथार्थ और कल्पना का ऐसा सुंदर संगम केवल इलाहाबाद में ही नहीं, शंकरदयालजी के साहित्य में भी संभव हो सका है। इस दृष्टि से 'मिथ्याओं के बीच' कहानी का मैं यहाँ अवश्य उल्लेख करना चाहूँगा। यह कहानी हमारे समाज के उन तथाकथित उच्च वर्गीय, उच्च-पदीय लोगों के मुख पर एक तमाचा है जो ऊपर से साफ-सुथरे श्वेत वस्त्र धारण किए रहते हैं; परंतु अंदर से वे उतने ही काले हैं। इस कोटि में बड़े-से-बड़े व्यवसायी, सरकारी पदाधिकारी, बड़े-बड़े समाज-सुधारक, बड़े-बड़े राजनेता और मंत्री सभी लोग शामिल हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों की एक प्रमुख विशेषता है उनकी कथ्यगत विविधता। 'कथ्यगत-वैविध्य' की दृष्टि से भी शंकरदयालजी की कहानियाँ समसामयिक बन पड़ी हैं। उनकी कहानियों में जीवन-जगत् के यथार्थ की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति अपनी हर अच्छाई-बुराई के साथ रूपायित हुई है। अधुनातन आयामों में, नारी जीवन के संदर्भ में स्त्री और पुरुष के संबंध, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, दलबदल, अवसरवादिता आदि के यथार्थ चित्रण के माध्यम से आज के भारतीय जीवन की सचाई के भी चित्र उनकी

कहानियों में विद्यमान हैं। जहाँ तक 'सेक्स' और 'नैतिकता' का प्रश्न है, उनकी कहानियों में 'सेक्स' कभी नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर पाता। उनकी कहानियों में कहीं तो ग्राम्य-जीवन और आंचलिक परिवेश के अंकुर प्रस्फुटित होते हुए दिखाई देते हैं तो कहीं आधुनिक नागरिक-जीवन का यथार्थ अपने संपूर्ण परिवेश के साथ उपस्थित होता है। यथार्थवाद से पूर्णतः जुड़ी रहकर भी उनकी कहानियाँ कहीं-न-कहीं एक विशेष बिंदु पर आदर्श से भी जुड़ी रहती हैं। और इस प्रक्रिया से कहानी की मूल संवेदना अपने निखरे हुए रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होती है। उनकी कहानियों का यथार्थ सामाजिक यथार्थ बनकर सामने आता है और सामाजिक यथार्थ के ढाँचे पर खड़ी उनकी कहानियाँ, आज की जिंदगी के बहुत निकट आ जाती हैं।

कहानी के अनुभूति से जुड़े कथ्य को सार्थकता प्राप्त होती है कहानी के शिल्प से। शंकरदयालजी की कहानियों का शिल्प भी उनके कथ्य से संचालित होता है। कहानी के शिल्प-विधान में कथानक का विशेष महत्त्व होता है। परंतु शंकरदयालजी की कहानियों में आपको क्षीण-कथानक के दर्शन होंगे। प्रायः अन्य कहानी लेखकों की कहानियों का कथानक, कल्पना के झरोखों से उतरकर, कहानी की रचना करता है; लेकिन शंकरदयालजी की कहानियाँ तो जीवन के यथार्थ अनुभवों की कहानियाँ हैं। अतः, उनमें कथा-तत्त्व का क्षीण हो जाना स्वाभाविक ही है। कथानक के स्थान पर चरित्रों और मनःस्थितियों पर पड़नेवाले प्रभावों को चित्रित करने में लेखक का झुकाव अधिक रहता है। इस दृष्टि से 'आर-पार की मंजिलें', 'यह कहानी नहीं है', 'एक वह भी थे', 'शिष्टमंडल' और 'मोहरसिंह' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी में कहानी के शीर्षक की भी प्रमुख भूमिका होती है। कहानी का शीर्षक ही कहानी की सही मायनों में पहचान कराता है। कहानी के शीर्षक यदि आकर्षक न हों तो पाठकवर्ग कहानियाँ पढ़ने के लिए प्रेरित नहीं होता। शीर्षकों की दृष्टि से शंकरदयालजी की कहानियों के शीर्षक विषयानुकूल, स्पष्ट, रोचक, आकर्षक और नवीनता लिए हुए हैं। शीर्षकों के चयन में लेखक ने अपनी कलात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। 'अनायास', 'आर-पार की मंजिलें', 'सिलसिला', 'कितना क्या अनकहा', 'आत्मदाह', 'मोहरसिंह' आदि इसी प्रकार के शीर्षक हैं जो किसी भी पाठक को कहानी पढ़ने के लिए आकर्षित करने में सक्षम हैं।

शीर्षकों से भी अधिक कहानी को प्राणवत्ता कहानी के पात्र-नियोजन से प्राप्त होती है। सजीव पात्रों के क्रिया-कलापों से ही कहानी जीवंत और सशक्त बन पाती है। शंकरदयालजी की कहानियों के पात्र सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश के अंग बनकर कहानियों में अवतरित हुए हैं।

कहानी के पात्र यथार्थ जीवन के पात्र तो नहीं होते परंतु कहानीकार अपनी कलात्मक

प्रतिभा से, उन पात्रों को जीवंत बनाने के लिए, उनमें समस्त अच्छाइयों और बुराइयों के साथ मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है। शंकरदयालजी इस कला में काफी सुलझे हुए और मँजे हुए साहित्यकार के रूप में सामने आते हैं। उनकी कहानियों के पात्रों से मिलकर ऐसा लगता है कि ये पात्र हम सबकी जिंदगी में कहीं इधर-उधर ही घूम रहे हैं। उनकी कहानियों के पात्र सदैव यह भ्रम पैदा करते हैं कि लेखक कोई कहानी न लिखकर किसी लौकिक पात्र का संस्मरण लिख रहा है। लेखक ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में पूरी सतर्कता से काम लिया है। पात्रों के बाह्य जीवन के साथ-साथ उनके अंतर्मन की झाँकी बड़ी बारीकी से प्रस्तुत की गई है जो इस बात का परिचायक है कि लेखक को मानव प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान है। उनके पात्रों में नैतिकता-अनैतिकता, शुभ-अशुभ, भलाई-बुराई अपने स्वाभाविक गुण-अवगुणों के साथ रूपायित होती है। लेखक ने जीवन के सत्य को कितनी गहराई से पकड़ा है, यह उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण से ही पता चलता है। मुंशी प्रेमचंद इस कला में सिद्धहस्त थे। उन्होंने 'गोदान' में 'होरी' का चरित्र खड़ा किया। आज हिंदी साहित्य जगत् में होरी उस काल की शोषित सामाजिक व्यवस्था से ग्रसित कृषक वर्ग का प्रतीक बनकर हमारे मानस पर विराजित हो गया है। शंकरदयालजी को भी वही कला हासिल हुई है। 'मोहरसिंह' कहानी का पात्र मोहरसिंह इसका सशक्त उदाहरण है।

शंकरदयालजी अपनी कहानियों में कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण आदि के अनुरूप जिस वातावरण की सर्जना करते हैं, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के जिन तंतुओं से कहानी के परिवेश को मंडित करते हैं तथा कहानी में सजीवता लाने के लिए परंपरा, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि का देशकालानुरूप सूत्रपात करते हैं, उन सबसे कहानी अपने शिल्प-विधान में प्रभावोत्पादक होती हुई यथार्थ जीवन के निकट आती चली जाती है। वास्तव में शंकरदयालजी की कहानियाँ जीवन की एक लय हैं। उनकी सर्जना जीवन के किसी विचार या अनुभूति से, मानवीय संबंधों से, सुख-दुखात्मक अनुभूतियों से, राग-विराग की भावनाओं से तथा जीवन के उत्कर्ष और पतन की संभावनाओं से जुड़ी हुई है। और इस सबका, कहानी में वहन करती है, लेखक की प्रवाहपूर्ण और सशक्त, विषय एवं परिवेश के अनुकूल भाषा, जिसमें, कहीं तो संस्कृत की शब्दावली का गांभीर्य है, तो कहीं बिहार के विभिन्न अंचलों से आए शब्दों की सहजता और सरलता। जब तक कहानियों में भाषा अपने परिवेश तथा पात्रों के अनुकूल नहीं होती, कहानी प्रवाहपूर्ण नहीं बन पाती। शंकरदयालजी की कहानियों की भाषा पात्रानुकूल है। जिस वर्ग का पात्र है, वह वैसी ही भाषा का प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है।

शंकरदयालजी ने अपनी कहानियों में अपनी संवेदना को कहीं वर्णनात्मक ढंग

से तो कहीं विश्लेषणात्मक ढंग से, कहीं आत्मकथात्मक शैली में तो कहीं पत्रात्मक और संस्मरणात्मक शैली में व्यक्त किया है। 'यह कहानी नहीं है' तथा 'आखिर मेरी कलम चली गई' कहानियाँ संस्मरणात्मक शैली की उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पत्रात्मक शैली में लिखी गई उनकी कहानियों में 'अब रहने दो' तथा 'आरपार की मंजिलें' शिल्प-विधान की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ बन पड़ी हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कहानी के दोनों छोर—कथ्य और शिल्प—उनकी कहानियों में एक दूसरे के पूरक बनकर सामने आए हैं, जिन पर लेखक के अपने जीवन-दर्शन तथा स्वस्थ जीवन-मूल्यों की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है जो उनकी कहानियों को दूसरे कहानीकारों की कहानियों से थोड़ा अलग कर देती हैं और उनके कहानी-लेखन का अंदाजे-बयाँ, 'कुछ और' ही हो जाता है।

मेरे लिए इससे अधिक प्रसन्नता की क्या बात हो सकती है कि मुझे उनकी पूर्व-प्रकाशित-अप्रकाशित समस्त कहानियों को पुनः एक स्थान पर लाकर प्रस्तुत करने का अवसर मिल रहा है। संभवतः समय-समय पर अनेक पाठकों ने उनकी इन कहानियों का आस्वादन किया होगा; परंतु अब एक ही संग्रह में समस्त कहानियाँ आ जाने से सभी पाठकों को निश्चित ही लाभ होगा। इसके अतिरिक्त आज देश के कई विश्वविद्यालयों में शंकरदयालजी के साहित्य पर कई अनुसंधाता शोधकार्य कर रहे हैं। उन सभी शोधार्थियों को भी इस संग्रह का लाभ मिलेगा।

हमें पूर्ण आशा है कि प्रस्तुत कहानी संग्रह की कहानियाँ पाठक-समुदाय के लिए रोचक साबित होंगी। नए युवा कहानीकार इन् कहानियों से प्रेरणा ग्रहण कर कहानी-रचना के क्षेत्र में शंकरदयालजी की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य कर सकेंगे।

नई दिल्ली

—रवि प्रकाश गुप्त

अंतिम पत्र

शांत, स्निग्ध, सौम्य सागर सामने हिलोरें ले रहा था और सूरज को ऐसा लग रहा था मानो जो जीवन वह जी रहा था, वह ठीक इसके उलटा है। समुद्र की लहरें अस्थिरता के साथ आती हैं और स्थिरता के साथ लौट जाती हैं, परंतु उसके जीवन में घटनाओं का क्रम ज्वार-भाटे के समान आता है तथा जब कभी वह लौटता है तो अपनी लकीर छोड़ जाता है। पता नहीं क्यों, इस अस्थिर गति का नियंता नहीं सोच पाता कि जीवन सपना नहीं, यथार्थ है और सच की गति कल्पना की गति से अलग होती है।

देश में बहुतेरे समुद्र-तट होंगे, लेकिन कोवलम का सागरीय किनारा धरती और व्योम दोनों है। नारिकेल कुंजों से आच्छादित दूर-दूर तक फैले मछुआरों की झुग्गी-झोंपड़ियाँ, चहचहाते यात्रियों का मनोविनोद, वीणा के मंद स्वरों के समान लहरों की गति, सब मिलाकर किसी को मोह लें, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। सूरज यायावरी वृत्ति का निर्द्वंद्व व्यक्ति है। अतः कई बार वह इस तट को छू चुका है। और ऐसे ही क्षणों में उसे सहसा विश्वास हो जाता है कि जीवन का उद्देश्य अपने आपमें खो जाने में भी है।

''तुम्हारा गोल नाक-नक्श, गोरा-हँसमुख चेहरा, घुँघराले बाल, चपल किंतु सरल आँखें, स्वभाव की मृदुता—यह पूर्ण पुरुष का लक्षण है। फिर कैसे कोई स्त्री तुम्हें देखकर अपने को रोक पाएगी !'' वीणा ने उसके बालों में अपनी अँगुलियाँ उलझाते हुए यह बात आज से दस साल पहले कही थी, जब वह अपनी डॉक्टरी की डिग्री लेने कन्वोकेशन में गया था। और यह बात उस समय से आज तक सूरज के कानों में गूँजती रही है।

लेकिन इन बातों को याद करके अब क्या होगा? उसने सोचा ही था कि तभी द्वार पर हलका-सा चाप हुआ। सहज रूप से सूरज ने 'कम इन' कहा और आनेवाली लड़की का उन्मुक्त सौंदर्य देखकर वह सहम-सा गया।

''सर ! आपका बिस्तर कर दूँ?'' वह बोली और सूरज कोई जवाब दे उसके पहले ही उसने 'बेड कवर' हटा दिया तथा उसे तह करने लगी।

समुद्र की लहरों के समान उन्मुक्त तथा नारियल के पत्तों के समान चपल, सहज रूप से वह लड़की बोली, ''सर, किसी और चीज की जरूरत होगी तो घंटी बजा

दीजिए। मेरी ड्यूटी खतम हो रही है, मैं चली। गुड ईवनिंग।'' कहती हुई बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए वह चली गई।

सूरज के दिमाग में तक्वी शिवशंकर पिल्ले की 'मछुआ' घूम गई—क्या यह उसी का प्रतीक है?

अकेला रहकर भी आदमी अकेला नहीं रह पाता। यह ठीक है कि सूरज निर्द्वंद्व रूप से अकेला है, लेकिन शांत वातावरण और खामोश रातें भी कभी-कभी टीस को बेतरह बढ़ा दिया करती हैं ।

'सूरज, मेरी सलाह मान लो, शादी कर लो, घर बसा लो, बाल-बच्चे होंगे, सुखी जीवन होगा, तरतीब जिंदगी होगी, स्थिर परिवेश होगा।' यह बात दर्जनों बार वीणा ने कभी पत्रों द्वारा, कभी स्वयं मिलकर सूरज से कही है और उत्तर में सूरज ने केवल मुसकरा-भर दिया है। 'कोवलम-ग्रोवर' के किनारे बैठा सूरज पिछली बातों को याद कर आज भी मुसकरा रहा है।

सूरज ने कई बार चाहा है कि वीणा के पत्रों का जवाब दे या स्वयं कहे कि अट्टालिकाओं में रहनेवाले फुटपाथों के दर्द को नहीं जान सकते या खून के घूँट को पीकर भी हँसनेवालों की पीड़ा का मूल्य अक्षरों से या शब्दों से परे होता है। लेकिन सूरज ने कभी कुछ नहीं कहा। उसके मन में वही कुछ बैठा है कि न लिखना, कभी-कभी लिखने से बढ़कर होता है तथा न कहना, कभी-कभी सब कुछ स्वयं कह जाता है।

— सूरज जब-जब मैं तुम्हें देखती हूँ, जी नहीं करता कि एक पल के लिए पलकें मूँदूँ या नजरें हटाऊँ। न जाने तुममें क्या है?

— सूरज, तुम मुझसे मिला न करो और अगर मिलने का साहस है तो छोड़कर तुरंत चले जाने का दुस्साहस मत किया करो।

— सूरज, जानती हूँ कि बहुत बड़ी बेड़ी हमारे और तुम्हारे पैरों में पड़ी है, लेकिन क्या तुम उसे तोड़कर मुझे भी उससे मुक्त नहीं कर सकते?

— पता नहीं क्यों मैं तुम्हें रोज एक पत्र लिखा करती हूँ और हर पत्र में क्या न क्या लिख देती हूँ। डर लगता है कि कहीं ये चिट्ठियाँ भूल से पापा या भाई के हाथों पड़ गईं तो! लेकिन कभी-कभी यह भी सोच जाती हूँ कि ये पत्र उनके हाथों में पड़ जाएँ, जिससे जीवन का यह सारा राज खुल जाए और अधिक घुलने से बच जाऊँ।

— सूरज, पुराने जमाने में संयोगिता तथा ऐसी ही कितनी कन्याओं का हरण

किया जाता था और वह पुरुष बहुत बहादुर माना जाता था। क्या तुम अपने में यह साहस नहीं बटोर सकते?

— सूरज, क्या सच में अब कुछ नहीं हो सकता ? मैं किसी पशु के समान गले में फंदा डालकर किसी के साथ चली जाऊँगी, किसी की पत्नी बन जाऊँगी, किसी की माँ और किसी की कुछ। लेकिन सूरज, उसके बाद भी क्या मैं कभी तुम्हें भूल पाऊँगी?

रह-रहकर सूरज को आज से आठ-दस साल पहले लिखे वीणा के पत्रों के ये अंश दंश के समान बींध जाते हैं। रात आधी हो आई है, परंतु उसे नींद नहीं आती। वह उठकर बैठ जाता है तथा बत्ती जलाकर शीशे में अपने आपको देखकर स्वयं से बातें करने की चेष्टा करने लगता है ।

''हमारी-तुम्हारी यह आखिरी मुलाकात होनी चाहिए, सूरज, आज से यह भूल जाना कि वीणा नाम की कोई लड़की इस संसार में है या थी और उससे तुम्हारा कोई परिचय भी था।'' वीणा ने बड़े संतुलित रूप में यह बात सूरज से कही।

बेयरे ने कॉफी के दो प्याले और सैंडविच दोनों के पास लाकर रखे। यह बहुत पुराना होटल रहा है वीणा और सूरज के मिलन का केंद्र। सूरज ने अपनी आँखें उठाईं, उनमें से निरीहता झाँक रही थी।

वीणा ने कॉफी तैयार की और सूरज की ओर बढ़ाते हुए बोली, ''याद है तुम्हें, आज के ठीक बारह साल पहले हम इसी होटल में साथ-साथ कॉफी पीने आए थे। और सच कहती हूँ आज आखिरी बार यह कॉफी पी रहे हैं।''

सूरज सुनकर भी कुछ नहीं सुन रहा था। और ऐसे ही पैंतालीस मिनटों का समय बीत गया था। जैसे हवा का झोंका थम जाए, जैसे सूर्य-किरण से बर्फ की वर्षा होने लगे, जैसे गाय अपने बछड़े को दूध पिलाने की जगह लात चला दे। और फिर वीणा उठी थी, उसने घड़ी देखी,''अब तो पंद्रह मिनटों में मुझे घर पहुँचना है। अच्छा विदा लेती हूँ, सूरज 'गुड ईवनिंग'।'' और सूरज कुछ कहे, इसकी प्रतीक्षा किए बिना वीणा चल दी थी और 'सरस्वती होटल' के सामने खड़ा सूरज तब तक उसे निहारता रहा था, जब तक वह आँखों से ओझल न हो गई।

जैसे समुद्र की लहरें आती हैं, वैसे ही जीवन-जलधि में साल, महीने, दिन आते हैं और जाते हैं। सूरज उगता है, डूबता है, सुबह होती है, शाम होती है और इसी तरह, गालिब के अनुसार, आदमी की जिंदगी तमाम होती है। सूरज ने बहुतेरी कोशिशें कीं कि वह वीणा को भूल जाए, लेकिन रह-रहकर उसके दिल में वीणा के तार झनझना

उठते थे। कोवलम के इस समुद्री तट पर जब शांति की खोज में वह भागा आया है, तब भी कहीं-न-कहीं उसके अंतर में वही झंकार कौंध मचा रही है।

पिछली मुलाकात में वीणा ने स्वयं ही कहा था कि यह आखिरी मुलाकात है और तब से आज तक फिर इन दोनों की मुलाकात नहीं हुई, लेकिन सूरज कभी भी इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका कि अब फिर मिलना क्यों नहीं होगा।

आज पाँच दिन हो गए सूरज को यहाँ आए। जिस शांति की तलाश में वह यहाँ आया था, ठीक उसके विपरीत अशांति उसके हाथ आई है। कॉटेज के बाहर कुरसी निकालकर औरों के समान समुद्र-शोभा निहारने का वह प्रयास करता है, बदले में उठती लहरें उसे लगता है जैसे लील जाएँगी। नारियल के पत्तों के मर्मर स्वर में उसे ऐसा भान होता है, मानो कोई उसे चिथड़े-चिथड़े करने का प्रयास कर रहा है। और इन एकांत क्षणों में बैठकर सूरज बस एक ही बात सोचता रहा है—क्या प्यार की परिणति विक्षिप्त धरातल है?

वीणा को सूरज ने प्यार किया था, आज भी करता है, शायद जीवन की अंतिम साँस तक करता रहेगा। बदले में वीणा ने प्यार दिया, सपने दिए, अनुभूतियाँ दीं—लेकिन गदराए यौवन का सारा सुवास वीणा से किसी और ने लिया।

और आज वीणा दो बच्चों की माँ है, सुदक्ष गृहिणी है, भरे-पूरे परिवार की एक श्रेष्ठ सदस्या है, रूप और यौवन से लदी सचेतन मूर्ति है और दूसरी ओर सूरज जर्मनी की एक फर्म में काम करता है और केवल वीणा की याद में भागा हुआ एक ऐसा यायावर है, जो अपना भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ नहीं जानता।

'बोन' से चलते समय उसने कितने सपने देखे थे। चार साल की नौकरी में उसने यश और पैसा दोनों अर्जित किए थे और जब वह बंबई पहुँचा तो उसे लगा कि धन-दौलत-यश-प्रतिष्ठा-डिग्री प्राप्त करने के बाद भी वह एक भिखारी है—एक लुटा हुआ पथिक, एक उजड़े महल के साए में बैठा एक ऐसा जलील मनुष्य जिसका अतीत उसे पुचकारता है, लेकिन वर्तमान दुतकारकर रख देता है।

''क्यों दोस्त, लगता है कि अभी तक वीणा के तार तुम्हें झंकृत कर रहे हैं। लेकिन यार, वास्तविक वीणा का वादक तो अब कोई और है'' —दो-चार मित्र जो बंबई में 'रिसीव' करने आए थे, उन्हीं में एक सुरेश भी था जिसने यह बात कही।

और सूरज को लगा था कि उसके अंदर कहीं कुछ टूटा है और वह टूटना कुछ ऐसा ही है जैसे सप्तस्वरों के बीच में ही वीणा का कोई तार टूट जाए। जैसे सपने के बीच से ही नींद टूट जाए। जैसे कली में फूलने से पहले ही किसी गुलाब की डाल टूट जाए।

लेकिन, साथियों का क्या भरोसा, चिढ़ाने के लिए और बातों को ऊपर-नीचे करने

के लिए वे बात बना देते हैं — उसने सोचा और इधर-उधर की औपचारिक बातें करता रहा।

लेकिन सही बातों के ही सिर और पाँव हुआ करते हैं। वीणा से मिलने के लिए सूरज को तीन महीने तक भटकना पड़ा और जब वह मिली तो वह वीणा नहीं थी जिसे तीन-चार साल पहले छोड़कर वह विदेश गया था। वीणा अरोड़ा अब वीणा खरे हो गई थी; भारत की जनसंख्या में विगत चार वर्षों में उसने दो की वृद्धि की थी, चेहरे पर समृद्धि की सारी निशानियाँ पुलक रही थीं तथा मिलने पर सूरज को ऐसा लगा कि वीणा को पहचानने में भी कष्ट हो रहा है।

लेकिन दूसरी ओर सूरज ज्यों-का-त्यों वही सूरज था। आँखों से, दिल से, भावों से, अपनी मधुर मुसकानों से। उसने बहुतेरा चाहा कि पुरानी स्मृतियों को तरोताजा करके वीणा के तारों में झंकार पैदा करे, लेकिन सब व्यर्थ गया।

और अंत में वह समय भी आया जब स्वयं वीणा ने यह कहा कि यह हमारी और तुम्हारी आखिरी मुलाकात है।

और कोवलम के सागर के तीर बैठा सूरज, सूरज की आाखरी किरण के साथ अपना भी आखिरी दिशा-निर्देश करने पर रह-रहकर विचार कर रहा है।

क्या प्रारंभिक परिणय की परिणति यही होती है ? क्या प्यार एक सतही भावुकता मात्र है ? क्या वीणा ने जो कुछ भी कहा था या जो कुछ भी लिखा था—मात्र वह कोरी विडंबना थी ? क्या प्रेम में गहराइयाँ नहीं होतीं ?

और इसके साथ ही उसे बोन में अपने साथ काम करनेवाली जर्मन लड़की जूली की याद आ जाती— ''मिस्टर सूरज, किन ख्वाबों में आप इस कदर पड़े रहते हैं? कभी तो मौका दीजिए, इन सपनों को मैं साकार करूँ।''

''जर्मन लड़कियाँ सस्ती या सतही नहीं होतीं, आजमाकर तो देखिए, हम लोगों के अंदर भी आर्यों का ही खून वास करता है।'' जूली कहती।

और सूरज हँस देता—''मिस जूली, भारत में लड़के-लड़कियाँ जब घरौंदों का भी खेल खेलते हैं तो उसे सच मानकर। मैं जिन ख्वाबों में हूँ, वे सपने मात्र नहीं हैं, सच हैं।''

और जब एक शाम जूली ने सूरज को काफी अपनेपन के साथ सहलाया और पूछा कि आखिर उसके सपनों का राज क्या है, तो सूरज ने उसे साफ-साफ बताया— ''वीणा मुझे प्यार करती है, वीणा मेरे लिए बैठी है और यदि मैं आज शादी कर लूँ तो वह जीवन-भर या तो कुँवारी रह जाएगी या अपना जीवन ही समाप्त कर देगी।''

और इसके एक महीने बाद ही मिस जूली का एक प्यारा-सा पत्र और शादी

का निमंत्रण सूरज को मिला था। लिखा था—''मिस्टर सूरज, शादी एक 'बायोलॉजिकल' आवश्यकता भी है, अतः मैं कब तक आपकी राह निहारती बैठी रहूँ। वैसे, आपकी मित्रता और स्वभाव और हँसमुख चेहरा मुझे सदा याद आता रहेगा।

''मौका मिले तो मेरी शादी में शामिल होइए, कृतज्ञ होऊँगी।''

सामने सागर हिलोरें ले रहा है, जोड़े कल्लोल कर रहे हैं, बच्चे बालुओं में घरौंदे बना रहे हैं, हलकी हवा पत्तों को थपकियाँ दे रही है और सूरज डूब रहा है.....

सूरज उठा, अब यह सब सहन नहीं होता...कमरे में जाकर उसने लिखना शुरू किया—

'' वीणा,

''कभी मैं तुम्हें 'प्राणों से भी प्रिय' लिखा करता था, लेकिन शायद अब वह संबोधन तुम्हें उचित नहीं जँचे, अतः लिखकर और परेशान नहीं करना चाहता हूँ। तुमने स्वयं उस दिन कहा कि यह हमारी आखिरी मुलाकात है, लेकिन मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही तुम उठ गईं।

''काश, तुमने मुझे पहचाना होता ! मैं शरीर का नहीं, केवल प्रेम का भूखा था, और उस प्रेम को कलंकित करना कभी नहीं चाहता। प्रेम त्याग और बलिदान का ही दूसरा नाम है और उस प्रेम की रक्षा के लिए मैं जीवन-भर इतना जरूर करूँगा कि हृदय में दूसरी वीणा को स्थान न दूँ। जैसा हूँ, वैसा ही रह जाऊँ—अकेला, एकांत, निःशब्द। और तुम्हारे इस सद्य-प्रफुल्लित जीवन में कहीं भी कलंक की कालिख लगे, यह मेरा अभीष्ट नहीं है।

''तो इसके लिए आवश्यक है कि तुम्हारे ये सौ से अधिक मेरे पास पत्र, जिनका हर अक्षर प्रेम का जीवित इतिहास है और मेरे-तुम्हारे संबंधों का दर्पण—उन्हें तुम अपने हाथों ही या तो जला दो या फाड़ दो या जैसे चाहो वैसे नष्ट कर दो। रही बात न मिलने की। तो, वीणा, शायद इस देश में रहकर यह संभव न हो। कहीं-न-कहीं हम टकरा न जाएँ, इसलिए मैंने निश्चय किया है कि यहाँ से अब सदा के लिए चला जाऊँ।

''मैं एक सप्ताह के अंदर इस देश से कहीं बाहर—जर्मनी, अमेरिका, फ्रांस, कनाडा या इंग्लैंड चला जाऊँगा। तुम्हें पता भी न होगा कि मैं कहाँ हूँ और न तो इसकी कुछ आवश्यकता ही रहेगी।

''हाँ, एक बात अंत में मैं जरूर कहना चाहता हूँ—यदि कभी कोई पूछे कि सूरज से तुम क्यों बिछुड़ गईं तो तुम बेशक कह देना कि सूरज ने मुझे दगा दी। अपने बारे में कभी कुछ मत कहना; कारण नारी के सर्वोच्च गुणों में उसका प्यार, औदार्य,

बलिदान और त्याग होता है। और तुम्हारे आचरण से कोई यह न समझे कि तुमने प्यार के साथ धोखा किया है। इससे संपूर्ण नारी जाति के माथे पर कलंक का टीका लगेगा।

"तुमने आखिरी मुलाकात कही थी, यह मेरा आखिरी खत है। भूलों के लिए.....

— सूरज"

सूरज पत्र बंद ही कर रहा था कि हलकी घंटी बजी। उसने दरवाजा खोला तो वही कलवाली लड़की खड़ी थी—"सर, आपका बिस्तर लगा दूँ।"—कुछ मुसकराते और कुछ शरमाते हुए उसने पूछा।

"बिस्तर लगाओ नहीं, बल्कि मेरा सामान ठीक कर दो, मैं अभी यहाँ से चला जाऊँगा।" सूरज ने कहा।

"क्यों साहब! आप तो एक सप्ताह रहनेवाले थे?" लड़की ने निरीह भाव से पूछा।

"कभी-कभी जीवन में एक दिन भी पहाड़-सा होता है जो काटे नहीं कटता। मैं यहाँ शांति के लिए आया था, लेकिन अशांति ने मुझे घेर लिया है।"—एक दीर्घ निःश्वास लेकर सूरज ने बिना यह समझे कि इस लड़की को इन बातों से क्या मतलब, यह बात कही और स्वयं भी अपना सामान ठीक करने में लग गया। ❑

यह कहानी नहीं है

किसी भी झूठ को सच और किसी भी सच को झूठ मान लेना मेरे स्वभाव में है। 'हाँ, यह हो सकता है' या 'भला यह कैसे संभव है?' दोनों बातें मैं एक ही क्षण में सोच सकता हूँ। लेकिन उस दिन मेरे पास उस क्षण-विशेष में सोचने के लिए कुछ भी नहीं रह गया था।

कभी-कभी स्थितियाँ निर्निमेष कर देती हैं—न तो संज्ञा रहती है सोचने की, न चेतना—क्या है सच और क्या है झूठ? मेरे लिए वह क्षण भी कुछ ऐसा ही था।

रह-रहकर, कोने में बैठी वह लड़की मेरी ओर देख लेती थी। उसके बाद न तो वह हँसती थी, न मुसकराती ही थी। पहले तो मुझे ऐसा लगा, जैसे ट्रेन से सफर करनेवाला एक यात्री दूसरे यात्री को निहार लेता है या होटल में एक टेबुल के लोग दूसरे टेबुलवालों पर उड़ती निगाहें डाल देते हैं, वैसे ही उसकी भी वह नजर है। लेकिन कुछ ही देर में मेरा वह भ्रम टूट गया, जब मैंने यह महसूस किया कि यात्रियों के समान न तो यह उड़ती निगाह है और न औपचारिक देख-भाल, बल्कि वह लड़की बड़े करीने से मुझे ही देख रही है, और तब, अपने साथियों की नजर चुराकर, मेरी भी आँखें बरबस कोने के उसी टेबुल पर जाकर टिकने लगीं।

मुझे एम.पी. होकर आए कुछ ही दिन हुए थे कि मेरे एक मित्र ने अशोक होटल में खाने का निमंत्रण दिया। उसके पहले एक बार और अशोक होटल में खाना खाया था। यूँ भी बड़े होटलों में जाते झिझकता हूँ और खाते कतराता हूँ। कारण, ऐसे होटलों में खाना और पीना दोनों चलता है और अपने राम का संबंध पीने से है ही नहीं। फिर, खाना तो घर में खा लो या किसी ढाबे में—क्या फर्क पड़ता है?

खैर, मानता हूँ कि उस दिन का अशोक होटल में जाना बड़ा सार्थक हुआ। अगर नहीं गया होता, और खासकर उस समय, तो मैं वंचित रह जाता एक अनूठे सत्य से—उसे जानने और समझने के अवसर से, उसके अनुवर्ती झंझावात के झोंके से, जो अभी तक मेरे ऊपर है।

अशोक होटल आजादी के बाद की उपलब्धियों में एक है। किसी पहाड़ी लड़की के भोले-भाले सौंदर्य के समान भारतीयता से पूर्ण मेहराब, गुंबज, हलका गुलाबी रंग और अंदर भी भारतीय साज-सज्जा, किसी प्राचीन किले-सी भव्यता, बड़े-बड़े कमरे,